चतुर्थ अध्याय: कश्मीर: वर्तमान और भविष्य

i. कश्मीर केन्द्रित उपन्यास: आज और कल

ii. कश्मीर केन्द्रित उपन्यास: कश्मीर समस्या का समाधान

चतुर्थ अध्याय: कश्मीर: वर्तमान और भविष्य

i. कश्मीर केन्द्रित उपन्यास: आज और कल:

भविष्य के वर्तमान बनने और फिर अतीत हो जाने की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। यदि इसे कश्मीर के संदर्भ में देखें तो वहाँ भी भविष्य वर्तमान और वर्तमान अतीत बनता चला गया है, लेकिन आतंकवाद, हिंसा, मौत का भय, असामान्य जीवन और सेना के पहरे के बीच कश्मीरियों का जीवन ठहर-सा गया है। कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में वर्तमान की समस्या और भविष्य की चिंता के अंतर्द्वंद के बीच जूझते कश्मीरियों की उस मनोदशा का चित्रण किया गया है जहाँ वे वर्तमान की भयावहता और बेहतर आकांक्षित जीवन की चाह के बीच पीस रहे हैं।

कश्मीर का वर्तमान-

कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में कश्मीर की वर्तमान समस्या का चित्रण और बेहतर भविष्य की कल्पना ही नहीं की गई है, अपितु उन कारणों को उजागर करने का प्रयास भी किया गया है जो परिस्थितियों और संबंधों में होनेवाले बदलाव के लिए जिम्मेदार हैं। इन उपन्यासों में केवल घटनाओं का वर्णन नहीं है बल्कि उन घटनाओं का मानव-जीवन पर पड़नेवाले प्रभाव और मानव-संबंधों में होते बदलाव को भी दिखाया गया है। उपन्यासों में चित्रित है कि किस प्रकार क्रमश: वर्षों से चले आ रहे संबंधों में विकसित संदेह, बढ़ती घृणा और निरंतर होनेवाली आपसी टकराहट कश्मीर का वर्तमान बनता गया है, जिसने कश्मीर के भविष्य को भी प्रभावित किया। न केवल भारत बल्कि पूरी दुनिया के लिए जो सिर्फ एक घटना थी उसे कश्मीरियों ने जिया और भोगा था, भोग रहे हैं। दूसरों के लिए जो तथ्य हैं, मृत्यु के आंकड़े हैं, गुमशुदा लोगों की संख्या है, वह सब कश्मीरी-जीवन का भयावह यथार्थ है। यह यथार्थ चाहे जितना भी क्रूर हो, इसे देखना-झेलना कश्मीरियों की नियति बन गई है क्योंकि उनके पास अन्य कोई विकल्प नहीं है।

कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में कश्मीर की जो वर्तमान परिस्थितियाँ दिखाई गई हैं उनमें आम कश्मीरी कहीं भी खुद को सुरक्षित महसूस नहीं करते हैं। यदि वे मुसलमान हैं, पर भारत सरकार की नौकरी करते हैं तो दहशतगर्दों द्वारा गद्दार समझे जाते हैं और यदि कश्मीरी पंडितों के साथ अच्छे संबंध रखते हैं तो संदेह की निगाह से देखे जाते हैं। यदि वे कश्मीरी पंडित है और कश्मीर में है तो उनका हर पल मौत के साए में बीतता है, शरणार्थी हैं तो कैम्पों में नारकीय जीवन जीते हैं। इन सबके अलावा कश्मीरी पंडित और मुसलमान एक-दूसरे के मन में अपने प्रति उत्पन्न होनेवाले संदेह को भी झेलते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि कश्मीर पंडितों और मुसलमानों के बीच कोई मतभेद कभी नहीं रहा होगा लेकिन आपसी मतभेदों के बावजूद भी वे साथ-साथ मिलजुल कर रह रहे थे। कश्मीर में बढ़ते आतंकवाद और भेदभावपूर्ण नीतियों के तहत इनके संबंध तनावपूर्ण हुए। दरअसल कश्मीर में ऐसी परिस्थितियाँ क्रमश: बनने लगी जिसमें कश्मीरियों को किसी एक पक्ष को चुनना था और अपने-अपने धर्म का दबाव भी उन पर था। जहाँ कश्मीर पंडितों को कश्मीर की आज़ादी की मुहीम से दूर रखा गया था वहीं ऐसे भी मुसलमान थे जो बिना कुछ किए भी इस मुहीम में शामिल माने जाने लगे। अत: संदेह का वातावरण दोनों ओर बनने लगा। यह दौर कश्मीरी पंडितों और मुसलमानों दोनों के लिए कठिन रहा है। एक ओर कश्मीरी पंडित सेना के जासूस समझे जाने लगे थे वहीं कश्मीरी मुसलमानों पर आतंकियों का साथ देने अथवा उनके मुखबीर होने का संदेह था। इस संदर्भ में बलराज पूरी लिखते हैं, "Just as many Pandits tended to believe that Muslims could not be loyal to the country, many Muslims tended to believe that the Pandits could not be loyal to Kashmir, that every Pandit could be a mukhbar (informer). Militants could use this suspicion as a basis to kill Pandits."[1] इस संदेह का फायदा आतंकवादियों ने उठाया एवं इसे और अधिक बढ़ावा दिया ताकि कश्मीरी पंडित और मुसलमान एक-दूसरे की मदद करने और मदद मांगने से डरे। इस दौरान कई अफवाहें भी फैल रही थीं

जिनका कोई आधार भले न हो, लेकिन इन अफवाहों ने आपसी विश्वास की नींव को हिला दिया था। संजना कौल के उपन्यास 'पाषाण युग' की अंजलि और अख्तर साहब पड़ोसी थे। अख्तर साहब की मुमानी और अंजली की दादी के संबंध बहुत अच्छे थे। "एक ही तो दीवार थी बीच में। मुमानी के जाने के बाद भी सबसे मीठा पड़ोस यही बना रहा। कई पीढ़ियों के संबंध और कई पीढ़ियों की ऐसी स्मृतियां जिन्हें दोनों घरों के लोग कई-कई बार एक साथ बैठकर आपस में बांट लिया करते थे।"[2] लेकिन जब कश्मीर में आतंकी गतिविधियां बढ़ने लगीं और सीमा पार से आए अख्तर साहब के बेटे हमीद के हाथों में बंदूक आ गई, तब से इन दोनों परिवारों के संबंध खराब होने लगें। यहाँ तक कि उनके बीच बातचीत भी बंद हो जाती है। अंजलि के परिवार के लिए यह केवल आहत करनेवाली घटना नहीं थी बल्कि उस भय का कारण भी था, जहाँ वे महसूस करने लगे थे कि वे कश्मीर में अकेले पड़ते जा रहे हैं। उनके वर्षों से बने-बनाए संबंध टूटते जा रहे हैं। भय और संदेह के बनते इस वातावरण में अंजलि को वह कश्मीर याद आता है जहाँ कोई भय, कोई संदेह, कोई आशंका नहीं थी बल्कि एक सामान्य जीवन था, "भाई-बहनों से भरा-पूरा। जैसे शहर में पहले की तरह अमृत की धाराएं बरस रही हों। मौत, गोली या आतंक का दूर-दूर तक नाम नहीं। वितस्ता की छाती पर फिर से अबीबीलें उड़ने लगीं, जैसे आसमान में उड़ते हुए कई-कई रंगपाखी राख में लिपटे शहर पर इंद्रधनुषी रंगों की वर्षा करने लगे।"[3] लेकिन कश्मीर के सन्दर्भ में यह माहौल बीती बातें बन गई थीं। वर्तमान में एक ही मोहल्ले में साथ-साथ पले-बढ़ें बच्चें एक-दूसरे को अपना दुश्मन मानने लगते हैं। आतंकी सोच उनपर इस तरह से हावी हो जाती है कि वे अपने ही मोहल्ले के कश्मीरी पंडितों को ताने और धमकियाँ देने में भी नहीं हिचकतें। 'नरमेध' उपन्यास के नरेन्द्र की बहन सुमिता को एक मुसलमान बच्चे की साइकिल से टक्कर लग जाती है और वह उस बच्चे से कहती है, "क्यों बे असलम, अंधा हुआ है क्या"[4] सुमिता के इतना कहते ही मोहल्ले के लोग उस पर बच्चे को धक्का देकर गिराने का दोष मढ़ने लगते हैं। यह घटना इतनी भी बड़ी नहीं थी जितना इसे बना दिया जाता है। इसका कारण था कि लोगों के मन

में एक-दूसरे के प्रति नफ़रत भरी जाने लगी थी, जिसकी वजह से सामान्य घटना भी असामान्य बनने लगी थी। इस छोटी-सी बात पर इतना अधिक विवाद हो जाता है कि नरेन्द्र का वहाँ से निकलना मुश्किल हो जाता है और अंत में माफ़ी मांगने के बाद ही वे दोनों वहाँ से निकल पाते हैं। नरेन्द्र और सुमिता के साथ हुई इस घटना के दौरान उनका पड़ोसी नजीब भी वहीं था। वह उनलोगों को शांत करने की जगह नरेन्द्र से ही कहता है, "अब ऐसी खूबसूरत जवान लड़कियों को साथ लेकर चलोगे तो लोग आवाजें तो कसेंगे ही।"[5] नजीब के अलावा और जो लोग वहाँ थे वे सभी नरेन्द्र और सुमिता को जानते थे। उनमें से कुछ तो नरेन्द्र के बचपन के दोस्त थे और कुछ उसके सहपाठी थे। बावजूद इसके वे लोग नरेन्द्र के सामने ही सुमिता के लिए अभद्र भाषा का प्रयोग कर रहे थे और यह कहने-करने का साहस उन्हें कश्मीर में बनते उस माहौल से मिला था जहाँ उनके दिमाग में यह बात भरी जा रही थी कि कश्मीर उनका है और कश्मीरी पंडितों ने उनका हक़ छीन लिया है। अत: पंडितों को यहाँ से चले जाना चाहिए। ऐसा नहीं था कि सभी कश्मीरी मुसलमान यह चाहते थे लेकिन ऐसी बातों के विरोध का साहस उनके पास भी नहीं था।

'कथा सतीसर' उपन्यास में रसूल अहमद के माध्यम से उस पीढ़ी को दिखाया गया है जो अपने पिता की मृत्यु के बाद पिछली पीढ़ी की नैतिकता, जीवन-मूल्यों और भाईचारे की भावना को दरकिनार कर चुका था। महदजू केशवनाथ के परिवार को अपना परिवार समझता था। महदजू केशवनाथ द्वारा मदद में मिली ज़मीन का एहसान जीवनभर मानता है। यहाँ तक कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी जेब से केशवनाथ के परिवार की तस्वीर निकलती है। उसी महदजू का बेटा रसूल अहमद केशवनाथ द्वारा अपने परिवार पर किए गए तमाम एहसानों को भूलकर केशवनाथ के परिवार के कश्मीर लौटने के सारे रास्ते बंद कर देना चाहता है। केशवनाथ का परिवार जब कश्मीर छोड़ जम्मू में जा बसता है तो रसूल अहमद एक लड़के के साथ उनके घर जम्मू जाता है, जिसे केशवनाथ की बेटी दुलारी के कश्मीर वाला घर पसंद आ गया था और रसूल अहमद चाहता था कि दुलारी अपना वह घर बेच दे। वह बार-बार केशवनाथ और उनके परिवार से

कहता है कि अच्छा हुआ जो उनलोगों ने कश्मीर छोड़ दिया। कश्मीर में अब कुछ भी नहीं बचा। वह जगह अब रहने लायक नहीं है। हालाँकि वह स्वयं कश्मीर में रह रहा था। उसके इस दुहरे चरित्र को देखकर दुलारी सोचती है, "मुझसे कहा, उधर सुकून नहीं है। मरते हैं बेकसूर। फिर भी तुम लुटे-पिटे निष्कासितों की जायदाद सस्ते में खरीद रहे हो, क्योंकि तुम्हें बच्चों के भविष्य की चिंता है। तुम्हारे दिल में कहीं यह डर भी है, कि घर-बार पीछे रहेगा तो एक दिन निष्कासित वापस लौट आएँगे। तुम उनकी उम्मीद भी खत्म कर देना चाहते हो।"[6]

रसूल अहमद जैसे लोग केशवनाथ जैसे विस्थापितों की पीड़ा को संभवत इसलिए भी महसूस नहीं कर पाते क्योंकि उनके अनुसार कश्मीरी पंडित अपनी सही जगह हैं, यानी कश्मीर से बाहर। कश्मीर में रहने का अधिकार तो केवल रसूल अहमद जैसे मुसलमानों का ही है और इन पंडितों ने अब तक कश्मीरी मुसलमानों के अधिकारों पर कब्ज़ा कर रखा था। कश्मीरी पंडितों की संपत्ति पर, जिसे वे कश्मीर में छोड़ आए थे, कश्मीरी मुसलमानों का ही अधिकार है। उनका यह अधिकार उन्हें तभी मिल सकता था जब कश्मीरी पंडित कश्मीर छोड़कर चले जाए। यही कारण था कि रसूल अहमद के मन में कश्मीरी पंडितों के प्रति कोई संवेदना नहीं थी। केशवनाथ द्वारा की जानेवाली मदद को वह मदद न मानकर अपना हक समझता है। जैसा कि रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, "जाहिर है भट्टों के घर बिकवाने का दलाल बनने में उसे ज़रा भी ग्लानि नहीं। जो चीज़ अंतत: उनकी है, उसके लिए हिन्दू मालिकों को औने-पौने दाम देकर वे मनुष्यता का फर्ज ही अदा कर रहे हैं न!"[7] कश्मीर के बदलते माहौल और बढ़ते आतंकवाद के प्रभाववश रसूल अहमद जैसे लोग इतने संवेदनहीन हो जाते हैं कि उन्हें दूसरे धर्म के लोगों की पीड़ा से कोई फर्क ही नहीं पड़ता। उनके लिए वर्षों से साथ रहने और पीढ़ियों के संबंध होने के बावजूद भी कश्मीरी पंडित पराये थे। रसूल अहमद दुलारी को अपने कश्मीर का घर बेचने के लिए यह कहते हुए मनाता है कि अब पंडितों की कश्मीर में वापसी संभव नहीं और उन्हें पैसे की ज़रूरत भी होगी। अत: दुलारी को अपना घर बेच देना चाहिए। उसे इस बात पर पूरा विश्वास था कि कश्मीरी पंडित

कभी नहीं लौटेंगे, उन्हें लौटने ही नहीं दिया जाएगा क्योंकि "आज़ादी की राह में हिन्दू लोग रोड़े भर रहे हैं, क्योंकि वे हिंदुस्तानी एजेंट हैं। सो उनका वादी से चले जाना ठीक ही है। उनके जाने के बाद, ज़ाहिर है, घर-बार, ज़मीन-जायदाद, नौकरी-वौकरी पर किसी का हक बनता है, तो रसूल अहमद और उसके बाबथर का क्यों नहीं?"[8]

दुलारी और उसका पति रसूल अहमद के साथ आए लड़के को अपना घर बेचने को तैयार हो जाते हैं। घर के कागज़ रसूल अहमद को देते समय दुलारी को ऐसा लगता है जैसे वापस लौटने की जो उम्मीद उसके पास बची थी वह भी अब ख़त्म हो गई। जब घर ही नहीं रहा तो वहाँ लौटना कैसे होगा और कभी वह कश्मीर गए भी तो बिना घर के उनकी हैसियत मेहमानों जैसी ही होगी। यह सब सोचकर "दुलारी के दिल से धुआँ उठ रहा था। नौकरी के लिए घर से निकले। कम-से-कम, सेवानिवृत्ति के बाद, अपने घर में रह सकते थे, लेकिन पिंड से जुदा आखिरी तार भी टूट गया।"[9] दुलारी से घर के कागज़ रसूल अहमद उसकी ही दुआओं और आशीर्वाद के साथ चाहता था भले ही उसके दिल से उनके वापस लौटने की दुआ कभी भूल से भी न निकली हो। जो स्वयं आहत, पीड़ित और अपमानित हैं उनसे रसूल अहमद जबर्दस्ती अपनी खुशहाली की दुआ कराना चाहता है। उनके अपमान में भी अपने सम्मान की कामना करता है। रसूल अहमद के इस व्यवहार से केशवनाथ को महदजू की याद आ जाती है और वह कहते हैं, "एक महद जू था, जो हमारे, मास-दो-मास घर से दूर रहने पर चिट्ठियों पर चिट्ठियाँ भेजता था, कि घर लौट आओ, आपके बिना दिल नहीं लगता। एक यह रसूला, उसका ही लड़का, कहता है, 'अच्छा किया वहाँ से चले आए'..."[10] महद जू और रसूल अहमद के बीच इस वैचारिक अंतर की जिम्मेदार सांप्रदायिक मानसिकता थी जिसने भेदभाव की नीति को बढ़ावा दिया था। रसूल अहमद को इस बात से फर्क नहीं पड़ता था केशवनाथ के परिवार के साथ उसके पिता के संबंध कैसे थे। उसके लिए केवल कश्मीर का वर्तमान ही यथार्थ था। इस उपन्यास में रसूल अहमद और उसके पिता महदजू द्वारा दो पीढ़ियों के बीच आए उस वैचारिक अंतर का सूक्ष्मता से चित्रण किया गया है जो

कश्मीर की बदलती परिस्थितियों की गवाह है। परिस्थितियाँ इतनी तेज गति से बदल रहीं थीं कि कश्मीरी यह समझ ही नहीं पाते हैं कि आखिर यह क्या और क्यों हो रहा है। उनकी उम्मीदें, संजोयी विरासते, संबंध सब पुराने पड़ने लगे और कश्मीर की साझी परंपरा किस्सों में तब्दील होने लगी। रसूल अहमद की वर्तमान पीढ़ी साझे संबंधों के उस भाव को महसूस नहीं कर सकती थी जिसे उसके पूर्वजों ने बहुत जतन से सहेजा था। जहाँ लल्द्यद और शेख नुरुद्दीन कश्मीरी पंडितों और मुसलमानों के साझे थे।

संबंधों पर हावी हुआ यह स्वार्थ 'दर्दपुर' उपन्यास में भी देखा जा सकता है। सुधा और हिचकुकिल के परिवार के बीच वर्षों पुराना संबंध था। सुधा के परिवार के कश्मीर छोड़कर जाने के कुछ समय बाद जब उसका भाई अपने कश्मीर के घर में कुछ ज़रूरी सामान लेने जाता है तब हिचकुकिल और उसका देवर यह जानते हुए कि सुधा का परिवार बड़ी मुश्किल से कैम्प में गुज़ारा कर रहा है उसके घर जाकर अपनी पसंद की वस्तुएं बड़ी निर्लज्जता से उससे मांगने लगते हैं। कुछ वर्षों बाद हिचकुकिल सुधा के घर की असली क़ीमत और उसके मालिक की आर्थिक-मानसिक स्थिति को जानते हुए भी उसे बहुत ही कम क़ीमत पर खरीदती है। सुधा सोचती है, "कम-से-कम दस लाख का यह घर कुछ हज़ार में वे खा गये हैं।"[11] अपने घर की असली क़ीमत से सुधा का परिवार भी वाकिफ़ था लेकिन वे उस स्थिति में नहीं थे कि कीमत के लिए कोई मोलभाव कर सकें। एक तो उन्हें पैसों की ज़रूरत थी और दूसरा उस घर पर किसी के कब्ज़ा कर लेने की स्थिति में न घर ही उनका रह जाता और न ही उसके पैसे उन्हें मिलते।

'कथा सतीसर' उपन्यास में जिन सबंधों के बदलाव का चित्रण किया गया है उनके बनने का आधार कहीं आपसी जरूरत थी, तो कहीं प्रेम था, कहीं लिहाज था तो कहीं रोजगार का सवाल था। दोनों धर्म के लोग एक दूसरे की अहमियत और जरूरत को समझते थे। एक-दूसरे के बुरे वक्त में साथ खड़े रहते थे लेकिन वर्तमान में भरोसा, आदत और निर्भरता की नींव हिलने लगी थी, जिसने अली नाइ जैसे लोगों की आर्थिक स्थिति को भी प्रभावित किया। कृष्ण जू को अब उस

अली नाई पर भरोसा नहीं रहा जो कई सालों से उनकी हजामत बना रहा था। उनके दिल में यह डर बैठ गया था कि शायद वह कभी हजामत बनाते-बनाते उनकी गर्दन ही काट दे। इस अविश्वास ने जहाँ कृष्ण जू के मन में भय भर दिया वहीं अली नाइ का रोजगार भी, जिसका आधार कृष्ण जू जैसे लोग थे, बुरी तरह प्रभावित हुआ। इसी उपन्यास की लल्ली का परिवार ख़ुर्शीद के लिए अपने परिवार जैसा ही था। ख़ुर्शीद से किसी ने कुछ नहीं कहा था लेकिन वह महसूस कर रही थी कि कुछ था जो बदल गया था। इस बदलाव को महसूस तो सभी करते हैं लेकिन कह नहीं पाते हैं। ख़ुर्शीद जो रोज़ लल्ली से मिलने उसके ससुराल जाती थी, उसे अब वहाँ न जाने की सलाह मिलने लगी थी। उसके पति सुभान मल्लाह के साथ ही अयोध्यानाथ भी उसे अपने घर आने से मना करने लगते हैं, "ख़ुर्शीद बेनी! सड़कों पर पुलिस के पहरे हैं। गली-नुक्कड़ों पर आए दिन दंगे होते रहते हैं, कर्फ्यू अलग। कुछ दिन घर में रहो।"[12] भले ही अयोध्यानाथ ने ख़ुर्शीद से यह बात अलग संदर्भ और अलग तरीके से कही हो परंतु इसके पीछे की मंशा को समझकर वह आहत हो जाती है। कुछ लोगों की सांप्रदायिक सोच के कारण उस घर से नाता टूटना खुर्शीद के लिए असह्य हो जाता है। लल्ली का परिवार खुर्शीद की पीड़ा को समझने के बावजूद भी कुछ न करने को विवश था।

उपन्यासों में चित्रित है कि किस प्रकार कश्मीरी पंडितों के मन में अपने मुसलमान पड़ोसियों और दोस्तों को लेकर भी संशय और अविश्वास बढ़ने लगता है, जिससे कश्मीरी मुसलमान चाहकर भी स्वयं को मुक्त नहीं करा पाते हैं। पंडितों के मन में इस प्रकार का संदेह उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था क्योंकि माहौल ही ऐसा बनने लगा था कि किस पर भरोसा किया जाए और किस पर नहीं यह समझ पाना मुश्किल था। इकबाल या इरफ़ान जैसे लोग कभी नहीं चाहते थे कि उनके पंडित दोस्तों-पड़ोसियों को कश्मीर छोड़ना पड़े। इसके बावजूद भी उन्हीं दोस्तों-पड़ोसियों का अविश्वास उन्हें आहत करता है। 'पाषाण युग' उपन्यास के इरफान के कई सारे पंडित दोस्त जो कश्मीर छोड़कर जम्मू बस गए थे। उनके साथ उसके संबंधों में दरार आ गई थी। उनके

विस्थापन का जिम्मेदार इरफ़ान नहीं था और उस समय वह भी उतना ही मजबूर था जितना कश्मीरी पंडित थे, बावजूद इसके उसके दोस्तों का व्यवहार उसके प्रति बदल जाता है। वह अंजलि से कहता हैं, "मुझे दुख होता है। ऐसा क्यों होता है कि एक साथी सालों बाद मिलता है और उसके साथ चाय या कॉफी पीते हुए आपको ऐसा लगता है कि पुराना प्यार करने वाला साथ उठने बैठने वाला दोस्त नहीं है या बीच में पांच-छः साल का लहूलुहान करने वाला वक्त रेगिस्तान की तरह पसर गया है।"[13] इस अविश्वास के कारण डर का ऐसा माहौल बनने लगता है कि इसी उपन्यास की अंजलि अपने घर के उस एकान्त कमरे में जाने से भी डरने लगती है, जिसमें उसका बचपन बीता था। उसे लगता है कि अचानक ही कोई आदमी इस कमरे से निकलेगा और उस पर हमला कर देगा। अपने इस भय को वह अपने परिवार के साथ भी साझा नहीं कर सकती, क्योंकि वह पहले से ही बहुत डरे हुए थे। अंजलि जैसे लोग जिन्होंने उस माहौल में भी कश्मीर में रहने का साहस किया था, यह डर उनकी नियति और त्रासदी दोनों बनता जा रहा था। अंजलि सोचती है, "यह छोटे-छोटे डर थे जिनसे वह पहली बार परिचित हो रही थी। कहीं इनकी तादाद में इज़ाफ़ा होने लगा था तो? उसने सोचा, यह मनोरोगी बनने की दिशा में पहला कदम तो नहीं है?"[14]

भय और अविश्वास का परिणाम यह होता है कि वर्षों से साथ रहनेवाले कश्मीर पंडित और मुसलमान एक-दूसरे के मुहल्लों में जाने से डरने लगते हैं। 'पाषाण युग' उपन्यास में यह दिखाया गया है कि जहाँ अंजलि की दोस्त उसे मुस्लिम मोहल्ले में नहीं जाने देती तो वहीं कश्मीरी मुसलमान भी अपने पंडित दोस्तों के मोहल्ले में जाने में सहज महसूस नहीं करते हैं। सकीना कुरैशी के पति, जो सूचना विभाग में कार्यरत थे, जब आतंकियों द्वारा मारे जाते हैं तो अंजलि भी नसीम और कॉलेज के बाकी लोगों के साथ उनसे मिलने उनके घर जाना चाहती है, लेकिन नसीम उससे कहती है "तुम रहने दो इतनी दूर तुम्हारा जाना ठीक नहीं होगा।"[15] अंजलि का भाई रवि जब आतंकवादियों द्वारा मारा जाता है तो अंजलि के कॉलेज से कोई उसके घर नहीं आता।

बाद में नसीम अंजलि के घर न जाने का कारण बताते हुए उससे कहती है, "परवीन ने कहा वो इलाका बहुत ख़तरनाक है जगह-जगह खाली मकानों में इन लोगों के अड्डे हैं तंग गलियों से गोलियां चलती हैं"[16]

इसी उपन्यास के बृजमोहन जी जब मजदूर से कोयला मंगवातें हैं तो उस मजदूर का व्यवहार उनके प्रति कुछ बदला-सा रहता है। बृजमोहन जी द्वारा कारण पूछे जाने पर वह बिना कोई ज़वाब दिए अजीब नज़रों से उन्हें देखता है। उसकी नज़रों में बृजमोहन जी के प्रति उपेक्षा, घृणा अथवा क्रोध में से कौन-सा भाव था यह उनके समझने के पहले ही, "उसने पैसे लिए, उसके बाद उन्हीं जलती हुई आंखों से एक बार उनकी तरफ़ देखा और एक मोटी गाली उछालकर पैर पटकता हुआ बाहर निकल गया।"[17] बृजमोहन जी को उससे ऐसे व्यवहार की न उम्मीद थी और न ही ऐसा व्यवहार उनके साथ पहले कभी किया गया था। उस मजदूर के मन में पंडितों के लिए इतनी घृणा भर गई थी कि वह उनका काम नहीं करना चाहता था। चूँकि काम करना उसकी मज़बूरी है, बावजूद इसके उनके प्रति अपनी घृणा को वह छुपा नहीं पाता है। 'नरमेध' उपन्यास में नरेन्द्र की माँ जब चेरीवाले से चेरी खरीदने जाती है उसके दरवाजे पर आया चेरीवाला बिना किसी बात के उसकी माँ के साथ बहस करने लगता है। शोर सुन जब आस-पास के लोग इकट्ठा होते हैं तो वह नरेन्द्र की माँ पर ही स्वयं के साथ खराब व्यवहार करने का आरोप लगाने लगता है। वे सभी लोग जो वर्षों से नरेन्द्र के परिवार के साथ रहते आये हैं, उनकी जगह उस बाहर से आये चेरीवाले का साथ देते हैं क्योंकि वह उनके धर्म का था। नरेन्द्र की माँ को चेरीवाले की बत्तमीजी से अधिक अपने मोहल्लेवालों का यह व्यवहार आहत करता है। वह सोचती है "श्रीनगर में नाखूनों के संग मांस की तरह आने वाले हिंदू-मुसलमानों में यह अलगाव कैसे आ गया? यह कटुता, यह जहर, न जाने क्या गुल खिलने वाला है यहाँ!"[18] वहीं 'कथा सतीसर' उपन्यास की प्रभावती जब सब्जी खरीदने जाती है तो सब्जीवाला उसे सब्जियां नहीं चुननें देता। वह उससे कहता है, "जाओ बटनी, रास्ता नाप लो, छाँटकर सब्ज़ी नहीं मिलेगी। जो दे रहा हूँ चुपचाप ले जाओ..."[19]

'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की शबरी कश्मीरी पंडित थी। वह आतंकियों के 'फरमान' को नज़रअंदाज कर कश्मीर में रहकर लड़कियों के लिए 'स्कूल' चला रही थी। शबरी को 'स्कूल' बंद करने के लिए कई धमकियां मिलती हैं उसके बावजूद भी वह अपना स्कूल नहीं बंद करती है। एक दिन कर्फ्यू खुलने पर वह बाज़ार जाती है तो कुछ लड़के उसे रोककर कहते हैं, "ए बुढ़िया...बहुत चला लिया तूने सुकूल-वुकूल...अब खुद चलती बन। शबरी सहसा ठिठक गयी। उसे विश्वास ही न हुआ कि वह उसी से मुखातिब था। फिर साँस सी सटककर उसने कहा, वो स्कूल तुम्हारा क्या बिगाड़ता है? तेरा हुलिया बिगाड़कर दिखाऊँ क्या बिगाड़ता है? बहस करती है। पहले हमारी लड़कियों को बिगाड़ती है फिर बहस करती है।"[20] शबरी जब अपने आस-पास देखती है तो पाती है कि उसकी पहचान के लोग भी उसकी मदद करने के स्थान पर इस घटना को नज़रअंदाज करने की कोशिश कर रहे हैं। एक अनजान व्यक्ति शबरी की मदद करता है और उसे उसके घर यह कहते हुए पहुँचा देता है कि इस माहौल में किसी से बहस करना ठीक नहीं है। शबरी के लिए भरे बाजार में हुआ यह अपमान असहनीय था। उसने यह सुना था कि पंडितों को धमकियां मिल रही हैं, लेकिन उसके साथ भी कभी ऐसा हो सकता है और लोग इस घटना को देखते हुए भी नजरअंदाज कर सकते हैं, यह शबरी ने कभी नहीं सोचा था। कश्मीर में होनेवाला यह बदलाव केवल लोगों के व्यवहार तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि स्थिति औरअधिक खराब होने लगती हैं। क़बायली आक्रमण के समय कश्मीरियों ने मिलकर उनका सामना किया था और उन्हें रोकने का प्रयास किया था। साथ ही मदद के लिए आई सेना का सहयोग भी किया था लेकिन अब परिस्थितियाँ अलग थी। अब हमलावर केवल बाहरी नहीं बल्कि कश्मीर के भीतर भी थे। वे लोगों में घुले-मिले थे। उनके लिए कश्मीरी मुसलामानों को पंडितों के खिलाफ करना आसान था। जिसका परिणाम यह हुआ कि कश्मीर में आतंकियों को शहीद का दर्ज़ा मिलने लगता है। 'पाषाण युग' उपन्यास में लेखिका ने दिखाया है कि अंजलि के पासवाले मोहल्ले में रहनेवाला शाहिद, जो आतंकवादी था, जब मारा जाता है तो अंजलि के पड़ोस में

रहनेवाली महबूबा बीबी भारत सरकार को कोसती है। उसके अनुसार शाहिद इस्लाम के रास्ते चलकर, इस्लाम की रक्षा के लिए लड़ते हुए शहीद हो हुआ था। सिर्फ इतना ही नहीं कुछ दिनों बाद अंजलि और उसकी माँ ने देखा कि "महबूबा गली के अन्य औरतों के साथ अच्छे कपड़े पहनकर शाहिद के घर की तरफ जा रही थी। नज़ीर की बेटी के हाथ में हलवे का कागज देखकर अम्मा ने उससे कुछ पूछा और फौरन दरवाजा बंद कर दिया। धीरे-धीरे आकर वह कमरे में बैठ गई, "जानती हो अंजलि? शाहिद की मौत का हलवा बंट रहा है।"...मैंने तो नज़ीर की बेटी से सुना है। कह रही थी, वह शहीद हुआ है उसकी मौत हम सबके लिए फ़ख्र की बात है। इस पर ग़म नहीं होना चाहिए। खुशी मनानी चाहिए।"[21] महबूबा बीबी जैसे लोगों का झुकाव उनलोगों के प्रति था जिन्होंने उनके ही पड़ोसी रहे कश्मीरी पंडितों की हत्या की थी अथवा उनकी हत्या की साजिश में शामिल थे। शाहिद आतंकवादी गतिविधियों में तो शामिल था, साथ ही कई कश्मीरी पंडितों की मौत का जिम्मेदार भी था। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु पर अंजलि के पड़ोस में रहनेवाली महबूबा बीबी का रोना और उसके घर जाकर सांत्वना देना, उसे शहीद का दर्जा देना यह बताता है कि आतंकवाद ने व्यक्ति-मन को कितना गहरा प्रभावित किया है। जिस मुस्लिम लड़के ने शाहिद का पता सेना को बताया था उसकी हत्या कर दी जाती है। कोई भी उसकी लाश को उठाने और उसे दफनाने को तैयार नहीं होता क्योंकि कुछ लोगों कि नज़रों में वह अपराधी था। उसने आतंकी शाहिद की जगह सेना का साथ दिया था। जिसकी सज़ा उसे कब्र न नसीब होकर मिली थी। वहीं 'इकबाल' उपन्यास की जैनब के पति की हत्या बड़ी निर्ममता से केवल इस लिए कर दी जाती है क्योंकि उसने सरकार की मदद की थी। उपन्यासों में चित्रित है कि कश्मीर का वर्तमान ऐसा है कि आम कश्मीरी अगर सेना का साथ देते हैं तो दहशतगर्द उनके दुश्मन बन जाते है। दहशतगर्दों की मदद करते हैं तो सेना उसकी शत्रु बन जाती है और यदि वह इन दोनों में से किसी का साथ नहीं देते तो उन्हें दोनों द्वारा संदेह की निगाह से देखा जाता है। 'इकबाल' उपन्यास के रईस की स्थिति भी ऐसी ही थी। रईस कश्मीर में पुलिस ऑफिसर है। वह जिया को

बताता है कि जिस समय वह अपनी जान ख़तरे में डालकर होने वाले जुलूस और पत्थरबाजों को रोक रहा था, उसी समय सी.आर.पी.एफ के जवानों ने उसके मोहल्ले को घेरकर सबके घरों के शीशे तोड़ दिए। "उनमें हमारा घर भी था...फोन पर अम्मी रो रही थी कि तू तो दूसरों की हिफाजत में लगा हुआ है इधर हमें बचाने वाला कोई नहीं।"[22] उसकी पीड़ा यह है कि वह किसी ओर का नहीं है क्योंकि वह भारत सरकार की नौकरी करता है। इसीलिए वह कश्मीरियों के बीच संदेह की निगाह से देखा जाता है। रईस का घर मुस्लिम मोहल्ले में है, उस मोहल्ले पर होनेवाली सैन्य कार्यवाही का असर उसके घर पर भी पड़ता है। उसकी ईमानदारी को हमेशा संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। कई बार तो वह अपने किसी करीबी व्यक्ति की मृत्यु में भी शामिल नहीं हो पाता है क्योंकि कभी उसका धर्म इसमें बाधक बन जाता है तो कभी उसका फ़र्ज़। रईस जो कश्मीरी मुसलमान है और कश्मीर के बहुसंख्यक धर्म का है उसका जीवन भी आसान नहीं है। भले ही उसे कश्मीर छोड़ने की धमकी न मिलती हो, लेकिन भय और संदेह से उत्पन्न मानसिक पीड़ा से वह भी मुक्त नहीं है।

कश्मीर के भयावह वर्तमान को मनीषा कुलश्रेष्ठ भी अपने उपन्यास 'शिगाफ़' में चित्रित करती हैं। इस उपन्यास कि अमिता जब दोबारा कश्मीर लौटती है तो उसे लगता है कि वहाँ बहुत कुछ बदल गया है। कश्मीर की हवाओं में बारूद की गंध, दहशत और मातम घुल गया है। वर्षों बाद कश्मीर लौटती अमिता यह सोचती है कि, "हर पचास कदम पर खड़ा बन्दूकधारी मुझे आश्वस्त करने की जगह सहमा रहा था। सच ही कह रहा था अश्वत्थ की श्रीनगर अब बंकर्स का शहर बन गया है।" विलो...चिनारों...चिड़ के पेड़ों की तरह ही हथियारबन्द कैमोफ्लाज की हुई जिप्सियाँ और जैतूनी रंग की वर्दीवाले सैनिक...अब इस शहर के लैंडस्केप का हिस्सा बन गए हैं...।[23] एक ओर पेड़ दूसरी और बंदूक पकड़कर खड़े सैनिक वाले कश्मीर का यह रूप अमिता की यादों से बिल्कुल अलग था। यह बदलाव तो बाहरी तौर पर दिख रहा था लेकिन भीतर भी बहुत कुछ बदलने लगा था। जिन लोगों ने बंदूकें उठा ली थी उनके घर सुविधाओं से भरने लगे थे लेकिन

जिन्हें बंदूक का रास्ता स्वीकार नहीं था वे हर तरफ से उपेक्षित थे। भूख और भय के बीच अनिश्चित जिंदगी कश्मीर को आगे नहीं बल्कि पीछे धकेल रही थी। चूँकि कश्मीर में फैली अशांति अपने साथ पैसा लाती है इसीलिए उसे फैलानेवाले लोग बहुत हैं। यह समस्या कई लोगों के लिए रोज़गार का माध्यम बन गई है। किसी की आपबीती, बदहाली और पीड़ा किसी के लिए सिर्फ कहानी है। कोई उसे बेचना चाहता है तो कोई खरीदना। वजीर अमिता से कहता है, "बदअमनी का लम्बा-चौड़ा कारोबार फैला हो तो कौन अमन चाहे? न मिलिटरी, न मिलिटेंट। एन.जी.ओ. की मुफ्त रोटी...सऊदी अरब से मिलता शोरबा...। किसको भुखमरी में लिपटा अमन चाहिए?"[24] इस उपन्यास में लेखिका कश्मीर के उस वर्तमान को दिखाती हैं जहाँ पैसा और अमन के बीच अधिकांश लोग पैसा चुनते हैं। जहाँ हर सुख-दुःख का खरीददार मिल जाता है। जहाँ गरीब केवल वही है जो कुछ बेच नहीं सकता, जो हिंसा नहीं अमन चाहता है, कश्मीर में सांप्रदायिकता नहीं सद्भावना चाहता है।

भविष्य के प्रति चिंता-

कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में आपसी संबंधों और व्यवहार में होते बदलाव, बढ़ते संदेह और घटती संवेदनशीलता के साथ-साथ भविष्य के प्रति यह चिंता भी व्यक्त हुई है कि अगर कश्मीर में सबकुछ ठीक नहीं हुआ तो आगे आनेवाली पीढ़ी का क्या होगा? उस पीढ़ी का भविष्य क्या होगा जिसने जन्म से ही कश्मीर में अशांति का माहौल देखा है? कश्मीर की साझी विरासत को समझे बिना उसे केवल एक भौगोलिक क्षेत्र मानकर उसपर लिए जानेवाले राजनैतिक निर्णय, धर्म को केंद्र में रखकर की जानेवाली राजनीति, निष्पक्ष हुए बिना कश्मीर पर दिये जानेवाले बयानों ने कश्मीरियों के सामने गलत और एकपक्षीय धारणा रखी है। इससे सबसे अधिक नुकसान कश्मीरियों का ही हुआ है। अगर स्थिति यही रही तो यह क्षति आगे भी होती रहेगी। चन्द्रकान्ता का मानना है कि ये 'गलतबयानियाँ और एकपक्षीय निर्णय' कश्मीर की नई पीढ़ी के सामने गलत उदाहरण रखते हैं। वह उदाहरण, जो उनके 'कश्मीरियत' से बहुत अलग है, जो उन्हें उनकी परंपरा

और विरासत से दूर कर रहा है। उन संबंधों से दूर कर रहा है जो इस कश्मीरियत का सबसे बड़ा आधार है। कश्मीर केवल बहस का मुद्दा नहीं है बल्कि उसके विषय में ठहरकर, संवेदनशील होकर सोचने की ज़रूरत है। कश्मीर को लेकर इन विचारों और व्यवहारों के कारण भविष्य में उत्पन्न होनेवाली समस्यायों के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करते हुए चन्द्रकान्ता लिखती हैं, "क्या आगामी पीढ़ी, उन गलतबयानियों और एकपक्षीय निर्णयों के कारण, कश्मीर और कश्मीरियत के बारे में गलत धारणाएँ नहीं बनाएगी? आगे कश्मीर का कैसा इतिहास बनेगा?"[25]

'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास के अम्बरनाथ की भी यही चिंता है कि कश्मीर का भविष्य क्या होगा? अम्बरनाथ के मरने के बाद उसके जेब से मिले पत्र को जब शबरी पढ़ती है तो उसमें इंसानियत के ख़त्म होने, धार्मिक भेदभाव बढ़ने और रिश्तों के टूटने पर चिंता व्यक्त की गई थी। अम्बरनाथ ने मज़हब के संबंध में लिखा था, "इसने इन्सानों को जोड़ने के बदले काटा ज़्यादा है। अलग-अलग मज़हब के तहत लोग कटते गए। अलग होते गये। तो क्या आने वाले समय में हम भी कट जाएँगे? मेरे पृथ्वी के बच्चों का सादिक़ के बच्चों से कोई नाता नहीं रहेगा? और मैं? मुझे सादिक़ के बिना जीना होना और सादिक़ को मेरे बिना! जी पाएँगे क्या हम?"[26] अम्बरनाथ की यह मुख्य चिंता थी कि उसके बाद की पीढियां उसके और सादिक़ के उस संबंध को कभी समझ नहीं पाएंगीं जो धार्मिक भेदभाव से परे था, क्योंकि वे धर्म देखकर संबंध बनाएंगी। अम्बरनाथ की यह चिंता बहुत-हद तक सच भी साबित होती है। उसकी मृत्यु के बाद उसके दोस्त सादिक़ और उसकी बहन शबरी के बीच भाई-बहन का रिश्ता भले ख़त्म नहीं होता लेकिन धर्म को आधार बनाकर फैलाए जानेवाले आतंक द्वारा उन्हें दूर अवश्य कर दिया जाता है।

'कथा सतीसर' उपन्यास में लल्ली और केशव का बेटा नन्दन विदेश में बस जाता है। नन्दन अपने माता-पिता के बार-बार बुलाने पर भी अपने घर यानी कश्मीर नहीं लौटना चाहता है, क्योंकि उसके लिए अब वहाँ में कोई भविष्य नहीं है। कश्मीर में बिगड़ते माहौल और घटते रोज़गार के कारण नन्दन जैसे कश्मीरी युवक कश्मीर के बाहर नौकरी की तलाश में चले गए थे वे

वापस कश्मीर नहीं लौटना चाहते, क्योंकि उनके जाने का कारण केवल रोजगार नहीं बल्कि जान का भी खतरा था। आतंकवदियों को पैसे देने के बाद भी सुरक्षा की कोई 'गारंटी' नहीं थी। कश्मीर की नई पीढ़ी का यह सोचना सही भी था। यदि वे साहस करके कश्मीर में रह भी जाते तो उनके बाद की पीढ़ी का भविष्य क्या होगा? मनुष्यता, संवेदना, मानवता के क्या उदाहरण उनके सामने होंगे? घरों से बाहर गए युवकों के पीछे उनका परिवार अकेलापन भोगने को अभिशप्त था। यह वह पीढ़ी थी जिसने भरा-पूरा घर देखा था, लेकिन अब न चाहते हुए भी अपने बच्चों को बाहर भेजने को विवश थी। इस विवशता ने सयुंक्त परिवार की परंपरा को ख़त्म करना शुरू कर दिया था। कश्मीर में होता यह बदलाव "बड़े-बूढ़ों के लेखे में लिख गया है अकेलापन। ज्यादातर पीछे रहे भट्टों ने बाल-बच्चों को देश-परदेश भेज दिया है। घर-बार के मोह में बच्चों की ज़िन्दगानियों से खेलने का हक़ किसी को नहीं।"[27]

'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास में कश्मीरी मुसलमानों के पक्ष को भी उजागर किया गया है। इस उपन्यास की जया सोचती है, "घाटी में जो लोग अपने ही घर में 'एसोसिएशन ऑफ डिसएपियर्ड पर्संस' जैसी संस्थाओं के जरिए अपने अचानक गुम हुए बेटे-बेटियों को वापस पाने की उम्मीद की लाठी के सहारे चल रहे हैं। या ऊपरवाले के सामने हाथ फैलाते हैं कि अलग-अलग रंग के बूटों तले उनकी बहू-बेटियों की मानहानि होना बन्द हो। कहाँ गये उनके बेटा-बेटी? क्या उन्हें दहशतगर्द सीमा पार ले गये? दहशत फैलाने की ट्रेनिंग देकर उनका इस्तेमाल करने के लिए। या सेना की गोली का शिकार हो गये?"[28] कश्मीर में रहनेवाले कश्मीरी मुसलमानों की ज़िन्दगी भी वहाँ सुरक्षित नहीं थी। इन कश्मीरियों का कसूर केवल इतना था कि उन्होंने उस भूमि पर जन्म लिया था जो कुछ लोगों की राजनीति और आतंक का केंद्र बन गया था।

उपन्यासों में यह चिंता व्यक्त की गई है कि समस्या, उसके कारण और उससे उत्पन्न परिस्थितियाँ प्रत्यक्ष होने के बावजूद भी जब इतने वर्षों में इसका समाधान नहीं हो सकता है तो आगे क्या होगा? क्या कश्मीरियों का भविष्य हमेशा ऐसे ही अनिश्चित और असुरक्षित बना रहेगा? और

उनके हिस्से केवल कभी न ख़त्म होनेवाला यह इंतज़ार ही आएगा- अपने घर कश्मीर लौटने का, अपने गुमशुदा हुए संबंधी के लौट आने का, सब ठीक होने का, सम्मान से जीवन जीने का। ये प्रश्न, ये चिंताएं कभी-कभी सब ठीक होने की उम्मीद को भी धूमिल करने लगती हैं। 'कथा सतीसर' उपन्यास में चन्द्रकान्ता वर्तमान की इस समस्या की तुलना अतीत से करते हुए लिखती हैं कि अतीत में तो कश्यप ऋषि ने जलोद्भव के प्रकोप से नागों को बचा लिया था लेकिन इस समय ऐसा कोई नहीं दिखता जो कश्मीर को, कश्मीरियों को इस प्रकोप से मुक्त कर सकें, उनकी वादी में अमन ला सकें। इसी उपन्यास से, "सतीसर! जिसमें नए जलोद्भव उत्पात मचा रहे हैं। कश्यप ऋषि इतिहास हो गए, ऋषियों- मुनियों का ज़माना लद गया। नाग, आतंक से घबराकर वादी छोड़ गए। अब वहाँ राक्षसों का तांडव है। वादी को मुक्त करने कौन आएगा?"[29]

सब कुछ ठीक होने की उम्मीद-

इन चिंताओं के बावजूद भी इन उपन्यासों में एक उम्मीद भी देखने को मिलती है- सब ठीक हो जाने की उम्मीद। इन उपन्यासों में पात्रों के माध्यम से यह दिखाया गया है कि चाहे कितनी भी कठिन परिस्थिति हो लेकिन उससे हार न मानकर उससे लड़ना होगा, उसे बदलने का प्रयास करना होगा। 'नरमेध' उपन्यास में शंपा नरेन्द्र से, जो कश्मीर से विस्थापित होकर कैम्प में बड़ी दयनीय अवस्था में रहता है, कहती है, "लेकिन, मिस्टर नरेन्द्र, आपको साहस बटोरना होगा, जिंदगी हताश होने से अधिक बोझिल हो जाती है। माता-पिता, भाई-बहन का इस प्रकार छिन जाना बड़ा गहरा आघात है, किन्तु चारों ओर काँटे होने पर भी फूल बीच में मुस्कुराता है, जीवन का सन्देश देता है।"[30] नरेन्द्र जैसी स्थिति कई कश्मीरी पंडितों की है जो अपना परिवार खोकर कैम्प का जीवन गुजारने के लिए मजबूर हैं, लेकिन जैसा कि शंपा उम्मीद व्यक्त करती है कि भले ही विस्थापन के दौरान कश्मीरी पंडितों ने बहुत कुछ देखा-भोगा था जिसकी कटु स्मृतियाँ ताउम्र उनके साथ रहेंगी। उन स्मृतियों से उन्हें बाहर निकलना ही होगा और जीवन की एक नई शुरुआत करनी होगी।

कश्मीरी पंडित जब कश्मीर से निकले थे तो इस उम्मीद में निकले थे कि वे जल्दी ही अपने घर लौटेंगे। 'पाषाण युग' उपन्यास की रागिनी धमकी लिखी चिट्ठी मिलने के बाद अपने परिवार के साथ कश्मीर छोड़कर इस उम्मीद में जम्मू जा रही थी कि, "फिलहाल हम जम्मू जा रहे हैं। वैसे घबराना मत। दो-तीन महीनों की तो बात है। उसके बाद सब ठीक हो जाएगा।"[31] घर छोड़कर जाते समय भी रागिनी को यह उम्मीद थी कि यह समस्या केवल कुछ दिनों की है और जल्दी ही सब ठीक हो जाएगा। जितनी तेजी से सांप्रदायिकता कश्मीर में फैली है उतनी ही जल्दी है सबकुछ सामान्य भी हो जाएगा और उसके बाद वह अपने घर वापस लौट जायेगी। इस उम्मीद का आधार प्रेम और एहसान जैसे लोगों की दोस्ती है। प्रेम का पुराना दोस्त एहसान जब उससे मिलता है तो उसी आत्मीयता से मिलता है जैसे पहले मिला करता था। बिना किसी संदेह या शिकायत के और ऐसे ही संबंध 'सब ठीक होने की उम्मीद' को जिन्दा रखे हुए हैं। नन्दन जब प्रेम से यह कहता है कि उनकी ललद्यद और नुरुद्दीन की साझी विरासत में अब दरार आ गई है तो प्रेम नन्दन को अपने दोस्त एहसान मलिक का उदाहरण देता है। जिसने प्रेम के साथ अपने संबंध पर धर्म को हावी नहीं होने दिया था। उपन्यासों में इन पात्रों के माध्यम से यह उम्मीद दिखाई गई है कि कश्मीरियों के साझे प्रयास से ही सबकुछ ठीक होगा।

उपन्यासों में व्यक्त यह उम्मीद केवल कश्मीरी पंडितों की वापसी के सन्दर्भ में नहीं है बल्कि एक बेहतर माहौल में उनकी वापसी के सन्दर्भ में है। वह माहौल जहाँ से उन्हें निकाले जाने का या किसी की गोली के शिकार हो जाने का भय न हो। वह माहौल जहाँ कश्मीरी मुसलमान अपने गायब हुए संबंधियों की तलाश में न भटक रहे हों। उपन्यास कश्मीर में इस बदलाव की आकांक्षा रखते हैं। जिसके आधार पर 'पाषाण युग' उपन्यास की अंजलि का दोस्त देवेंद्र उसे भरोसा दिलाते हुए कहता है, "तुम बताओ, कितनी उम्र होती है फ़ासिज़्म या आतंकवाद की? फ़ासिस्ट या आतंकवादी आखिरकार मिट जाता है, तुम इन्कार करोगी इससे?"[32] यह अलग बात है कि कश्मीर से आतंकवाद अब तक पूर्णत: ख़त्म नहीं हो पाया है और कश्मीर में फैली हिंसा की

अवधी बहुत लंबी हो गई है लेकिन फिर भी जैसा कि 'शिगाफ़' का पात्र ओमार ख़ालिद अमिता के ब्लॉग की प्रतिक्रिया में लिखता है, "मुझे यकीन है कि हमारा कल्चर, जिन्हें हम कश्मीरियत कहते हैं, वह इतनी कमज़ोर नहीं है कि कट्टरपन्थी इसे कुचल दें। तुम लोग लौटोगे तो वक्त के बीतने के साथ इसकी चमक भी लौट आएगी और यह फिर अमन और भाईचारे से गुलज़ार होगा।"[33] ओमार ख़ालिद द्वारा अमिता को दिए गए इस आश्वासन का आधार कश्मीर की वह साझी संस्कृति है जिसे ललद्यद और शेखनुरुद्दीन ऋषि ने मिलकर बनाई थी। इस विरासत की छांव में अपना आचार-विचार निर्मित करनेवाले कश्मीरियों की धार्मिक पहचान भले अलग-अलग हो लेकिन उसकी सांस्कृतिक पहचान एक है। यह सांस्कृतिक पहचान सदियों में निर्मित हुई है अत: यह एक दिन में ख़त्म भी नहीं हो सकती। यह सच है कि कश्मीर की वर्तमान पहचान इस 'साझी सांस्कृतिक पहचान' से बिल्कुल ही इतर बना दी गई है, लेकिन फिर भी ओमार ख़ालिद पात्रों को यह उम्मीद है कि कश्मीर और कश्मीरी अपनी इस पुरानी और असली पहचान को दुबारा अवश्य हासिल करेंगे।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि इन उपन्यासों में कश्मीर जो था, जो है और जो होने की उम्मीद कश्मीरियों ने की उसका सूक्ष्मता से चित्रण किया गया है। कश्मीर एक ऐसा प्रदेश है जिसका वर्तमान रक्तरंजित और भविष्य अनिश्चित है। सामान्य जीवन की जटिलताओं को, धर्म नहीं बल्कि मानवता के आधार पर बने उनके संबंधों में होते बदलाव को, बढ़ती दूरियों और पनपते संदेह को कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में उसके कारणों के साथ दिखाया गया है। राजनैतिक निर्णय, हिंसक घटना, केंद्र और प्रदेश अथवा दो देशों के बीच उत्पन्न हुआ तनाव जो महज़ एक खबर के रूप में दुनियाँ के सामने आते हैं, वे भीतर-भीतर संबंधित क्षेत्र के निवासियों के आपसी संबंधों और भाईचारे को किस तरह खोखला करते जाते हैं इनका चित्रण उपन्यासों में पात्रों की मन:स्थितियों और परिस्थियों के आधार पर किया गया है। इन बदलते संबंधों और उथल-पुथल होते वर्तमान के कारण एक आम व्यक्ति अपने भविष्य के प्रति, अपनी आगामी पीढ़ी के भविष्य

के प्रति किन-किन चिंताओं से जूझता है, कैसे अपनी उम्मीद को बचाए रखता है यह इन उपन्यासों में उजागर है। अत: यह कहा जा सकता है कि कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में एक ओर कश्मीर की साझी विरासत के नष्ट होने की निराशा है, वर्तमान के अशांत और हिंसक होने की पीड़ा है तो वहीं दूसरी ओर सब ठीक होने की उम्मीद भी है।

ii. कश्मीर केन्द्रित उपन्यास: कश्मीर समस्या का समाधान:

कश्मीर-समस्या के समाधान की भले कई परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हों, लेकिन कश्मीर में एक साथ इतनी अधिक समस्याएँ हैं कि कोई एक समाधान उसपर लागू नहीं हो सकता है। पुरुषोत्तम अग्रवाल कश्मीर-समस्या के संबंध में लिखते हैं, " 'कश्मीर-समस्या' का एक कारण भूगोल है तो दूसरा इतिहास-मुस्लिम बहुल आबादी और भारत और पाकिस्तान दोनों से मिलती सीमाएँ। फ़ैसला हर रियासत की तरह महाराजा को ही लेना था और उनकी मुख्य चिंता अपनी हुकूमत बनाए रखने की थी, जो कि व्यावहारिक रूप से संभव नहीं था। इसीलिए उन्होंने भारत और पाकिस्तान दोनों से सौदेबाजी की कोशिश की, और इसी दुचित्तेपन के कारण 'समस्या' के वर्तमान रूप की शुरुआत हुई।"[34] कश्मीर का भारत में विलय संवैधानिक रूप से हुआ था। विलय-पत्र पर महाराज हरिसिंह ने जम्मू-कश्मीर के शासक होने के अधिकार से औपचारिक रूप से हस्ताक्षर भी किया था, बावजूद इसके विलय संबंधी विवाद, जनमतसंग्रह का आश्वासन, बदलते राजनैतिक परिदृश्य और बढ़ती आतंकवादी घटनाओं ने कश्मीर को एक अशांत प्रदेश बना दिया है। कश्मीर-समस्या के समाधान में होनेवाले विलंब ने इस समस्या को और अधिक जटिल बना दिया है।

मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "उपन्यास केवल यथार्थ की खोज और उसकी गति की पहचान का आख्यान ही नहीं है, वह सम्भावनाओं की तलाश का आख्यान भी है।"[35] इस संदर्भ में यदि कश्मीर केन्द्रित हिंदी उपन्यासों को देखे तो ये उपन्यास केवल कश्मीर-समस्या और आमजन पर

पड़ते उसके प्रभाव की ही चर्चा नहीं करते, बल्कि इसके साथ ही समस्या के कारणों और उसके संभावित समाधान का चित्रण भी करते हैं। हालांकि उपन्यासों में प्रस्तुत समाधान कश्मीर मुद्दे पर लागू हो सकता है या नहीं, यह दावे से नहीं कहा जा सकता लेकिन जब समस्या पर बात होती है तो उसके संभावित समाधान भी सामने आते हैं।

जयश्री रॉय के उपन्यास 'इकबाल' के संबंध में ज्योतिष जोशी लिखते हैं, "जयश्री किसी समाधान तक नहीं पहुँचतीं और न कोई समाधान देना उनका लक्ष्य है"[36] लेकिन अपने उपन्यास में जयश्री रॉय ने उन कारणों को दिखाती हैं जो कश्मीर-समस्या के समाधान में रुकावट हैं। उपन्यास का पात्र इकबाल कहता है, "ये कश्मीर समस्या दरअसल कोई असली समस्या है ही नहीं! ये तो एक जानबूझकर पैदा की हुई समस्या है...कोई चाहता ही नहीं कि इसका कभी कोई हल हो! बहुतों के लिये तो यह बस एक धंधा है...जब तक ये समस्या रहेगी तब तक उनकी दूकानें चलेंगी..."[37] इस उपन्यास के अनुसार कश्मीर-समस्या का समाधान बहुत पहले ही हो सकता था, लेकिन कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते ही नहीं की समाधान हो, क्योंकि उनका फ़ायदा समस्या सुलझने में नहीं बल्कि उसके उलझे रहने में है। इसलिए 'कश्मीरियों' को केंद्र में रखने की जगह 'कश्मीर' और उससे होनेवाले राजनैतिक-सामरिक-आर्थिक लाभ को ही केंद्र में रखकर इसका समाधान खोजा गया। जिसके तहत स्वार्थ और अहम् का टकराना स्वाभाविक था। अत: जो भूमि 'साझी विरासत' का उदाहरण बन सकती थी वह एक ऐसी समस्या बन गई जिसका स्थायी समाधान अब तक नहीं हो पाया।

चन्द्रकान्ता अपने उपन्यास 'कथा सतीसर' में सीधे-सीधे समाधान नहीं बताती बल्कि प्रश्न उठाती हैं। किसी भी समस्या का उचित समाधान तभी मिल सकता है जब समस्या के साथ-साथ उसे उत्पन्न करनेवाले कारणों की भी जानकारी हो, क्योंकि जहाँ समस्या के कारण होते हैं वहीं उनके समाधान भी होते हैं। बस उन्हें खोजना-समझना होता है। कोई भी समस्या स्वत: ही उत्पन्न नहीं हो जाती, विशेषत: तब जब वह कश्मीर-समस्या जैसी जटिल हो, बल्कि उसकी अपनी

पृष्ठभूमि होती है। आवश्यक है उस पृष्ठभूमि पर बात करना, उन कारणों पर बात करना जो इस समस्या की मूल वजह है। यही कारण है कि चन्द्रकान्ता अपने उपन्यास 'कथा सतीसर' में कश्मीर की बदलती परिस्थितियों को सामने रखते हुए, उनमें होनेवाले बदलाव का विश्लेषण करती हैं। वे लिखती हैं, "लोकतंत्र के इस गरिमामयी समय में नरक बनाने के लिए कौन ज़िम्मेदार हैं? छोटे-बड़े नेताओं, शासकों, बिचौलियों की कौन-सी, महत्त्वाकांक्षाओं, कैसी भूलों, असावधानियों और ढुलमुल नीतियों का परिणाम है, आज का रक्तरँगा कश्मीर?...पाकिस्तान तो आतंकवाद के लिए ज़िम्मेदार है ही, पर हमारे नेतागण समय रहते चेत क्यों न गए?...कई सालते प्रश्न हैं, जिनका उत्तर तलाशना ज़रूरी है,..एक रची-बसी संस्कृति के विखंडन की त्रासद परिणतियों से जुड़े सवाल! मानवीय यातना से जुड़े इन प्रश्नों का उत्तर तलाशते, व्यवस्था का परिक्षण ज़रूरी था, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कारणों को खोजना लाजमी था। मेरा मानना है, कि जहाँ विखंडन और विध्वंस के कारण होते हैं, वहीं कहीं आसपास, उन स्थितियों के निदान की संभावनाएँ भी छिपी होती हैं।"[38] उपन्यास में उठाए गए ये प्रश्न ही संकेत हैं कि अगर सही समय पर खोजने का प्रयास किया जाता तो बहुत हद तक संभव है कि यह समस्या इतनी अधिक जटिल नहीं होती।

कश्मीर में कश्मीरी पंडित विरोधी माहौल ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं कि कुछ लोगों द्वारा यह माना जाने लगा था कि कश्मीर की सभी समस्याओं का समाधान पंडितों का निष्कासन है। 'कथा सतीसर' उपन्यास में इस मानसिकता का विरोध किया गया है। धर्म, जाति या नस्ल के आधार पर की जानेवाली हिंसा या विस्थापन किसी भी समस्या का समाधान कभी नहीं हो सकता, बल्कि वह उस समस्या को और अधिक जटिल बना देता है। यदि कश्मीर के संबंध में देखें तो, "आखिर कश्मीर का मसला कोई इकहरा मसला तो नहीं? कि भट्टों को निकाल उसे इस्लामिक स्टेट बनाकर मामला हल हो जाए। फिर भारत में जो नौ-दस करोड़ मुसलमान हैं, उनको कितने पाकिस्तान बना कर देंगे?"[39] भारत जैसे देश में जहाँ लगभग सभी धर्म के लोग

रहते हैं, वहाँ किसी प्रदेश की समस्या का समाधान किसी विशेष धर्म या वर्ग को निकालकर कभी नहीं किया जा सकता है। ऐसा करने का परिणाम बहुत भयानक हो सकता है, बहुत हद तक संभव है कि ऐसा करने पर हर प्रदेश धर्म के आधार पर बंटने लगे। जैसा कि 'कथा सतीसर' उपन्यास की राज़ा कहती है, "आज हमारे लड़के पाकिस्तानियों को आमंत्रित कर रहे हैं। उनकी मदद कर रहे हैं, अल्पसंख्यकों को खदेड़न... ख़त्म करने में क्या कल यही पाकिस्तान-अफगानिस्तानी आतंकवादी कश्मीरियों की स्वतंत्र सत्ता को बने रहने देंगे?...राज़ा सही थी। पाकिस्तान को कश्मीरी नहीं, सिर्फ कश्मीर प्रदेश चाहिए। राह में जो आए, उसे हटा दो, वह हिन्दू हो या स्केयूलर मुसलमान।"[40] कश्मीर-समस्या का समाधान वहाँ के अल्पसंख्यकों के विस्थापन या कश्मीर की स्वतंत्रता में खोजने से पूर्व सन् 1947 के इतिहास को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। भारत-विभाजन और स्वतंत्रता के बाद कश्मीर के तत्कालीन महाराज हरिसिंह भी कश्मीर को स्वतंत्र रखना चाहते थे, लेकिन यह संभव नहीं हो पाया और उनके इस निर्णय का परिणाम कश्मीरियों को आवश्यक वस्तुओं की कमी, क़बायली हमला और हिंसा के रूप में भुगतना पड़ा।

'कथा सतीसर' उपन्यास में विलय की प्रक्रिया को वैध बताते हुए सरकार द्वारा लिए जानेवाले जनमतसंग्रह के निर्णय की आवश्यकता पर प्रश्न उठाया गया है, "एक्सेशन हुआ, यह तसल्ली की बात हुई, संकट कटा। माउंटबैटन ने कश्मीर का भारत से एक्सेशन स्वीकार किया गो कि नेहरू जी ने एक शर्त रखी।"...कैसी शर्त?...सुना है, शान्ति बहाल होने पर जनमत संग्रह कराने की शर्त रखी है।" "लेकिन क्यों? जब हम अपनी इच्छा से विलय की बात कर रहे हैं!"..."नेहरू जी का आदर्शवाद? कहीं कल किसी के मन में आशंका सिर न उठाए कि हमारे साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती हुई..." "आह! ज़बरदस्ती! क्या हम ख़ुद मदद माँगने उनके पास न गए?"[41] जनमत संग्रह की अनावश्यकता पर यह एक सामान्य धारणा है परन्तु इस निर्णय को भी तत्कालीन परिस्थितियों में रखकर देखा जाना चाहिए। जहाँ विलय-संबंधी विवाद का समाधान जनमतसंग्रह द्वारा करने की

नीति थी।

उपन्यास में सरकार की नीतियों और निर्णयों पर भी प्रश्न उठाया गया है। उपन्यास के पात्र हवलदार का मानना है कि यदि इंदिरा गांधी चाहती तो सन् 1971 में हुए भारत-पाकिस्तान युद्ध के बाद हुए शिमला समझौते में ही इस समस्या का समाधान कर सकती थीं, लेकिन उन्होंने पाकिस्तान पर दबाव बनाने की जगह बातचीत से इस समस्या को हल करना चाहा। जिसका परिणाम आज सामने है। वह कहता है "यह तो भाइयों, इन्दिरा गाँधी ने दरियादिली दिखाई... और शिमला समझौते में कश्मीर का मसला बातचीत से हल करने की बात की। वे चाहतीं, तो उसी वक़्त हमेशा के लिए कश्मीर का मसला सुलझा लेतीं।"[42]

इस उपन्यास के प्रेम का मानना है कि "कभी-कभी महत्त्वाकांक्षाएँ व्यक्ति का ही नुकसान नहीं करतीं, देश का भाग्य भी बदल देती हैं।"[43] कश्मीर के साथ भी यही हुआ है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कश्मीर कई लोगों की महत्त्वाकांक्षाओं की बलि चढ़ गया है। कश्मीर-संबंधी निर्णय लेने के दौरान केंद्र में कश्मीरी न होकर निजी स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा रही है। इस प्रदेश की विडंबना ही है कि यह अपने निवासियों से अधिक महत्वपूर्ण हो गया और कश्मीर के संदर्भ में यह पहली बार नहीं था, बल्कि पहले भी ऐसा हो चुका था। जब जुर्माना न दे पाने के कारण सिख साम्राज्य द्वारा इसे अंग्रेजों को बेच दिया गया था। जिसके बाद अंग्रेजों से इस प्रदेश को डोगरा शासक गुलाब सिंह ने खरीद लिया था। खरीदने-बेचने की इस प्रक्रिया में वे कश्मीरी कहीं भी शामिल नहीं थे, जिनपर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़नेवाला था।

संजना कौल के उपन्यास 'पाषाण युग' में कश्मीर समस्या का समाधान तो नहीं दिया गया है लेकिन उस समस्या के कारण उपजी त्रासदी का चित्रण अवश्य किया गया है। जैसा कि संजना कौल लिखती हैं, "इतिहास में कोई बड़ी घटना नहीं घटी। न हिरोशिमा की पुनरावृत्ति हुई, न नागासाकी में रेडियोधर्मिता ने नया जन्म लिया। तीसरा विश्वयुद्ध भी नहीं छिड़ा। सिर्फ़ एक तपोवन

देखते ही देखते आदमखोर पेड़ में बदल गया"[44] यहाँ इन सभी घटनाओं से कश्मीर की परिस्थितियों की तुलना करने का उद्देश्य यह बताना रहा है कि बेशक बाहरी तौर पर कश्मीर-त्रासदी अपेक्षाकृत कम समझी जाए लेकिन इसने भीतर-ही-भीतर वहाँ के जीवन को रक्तरंजित कर दिया है। उन्हें ऐसा ज़ख्म दे दिया है जिसका भर पाना बहुत मुश्किल है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ के उपन्यास 'शिगाफ़' में भी कश्मीर-समस्या के समाधान की जगह उसके कारणों को ही केंद्र में रखा गया है। स्पेन में रहनेवाली अमिता जब इयान बांड के साथ ला मांचा घूमने जाती है तो वह उसे अपने देश के उस इतिहास के बारे में बताता है जहाँ संघर्ष, तनाव, हिंसा और गृहयुद्ध था। वह अमिता से कहता है कि कश्मीर की समस्या भी बहुत हद तक उनके यहाँ हुए 'बास्क संघर्ष' की तरह ही है। संघर्ष के दिनों में वहाँ के लोगों को भी यही लगता था कि इस समस्या का कोई समाधान नहीं मिलेगा, लेकिन वक्त बीतने के साथ-साथ उनकी समस्या अंततः सुलझ ही गई। इयान बांड का मानना है कि इस समस्या का हल कश्मीरियों को निस्वार्थ भाव से एक दूसरे के हितों को ध्यान में रखते हुए खुद ही ढूँढना होगा। अगर कश्मीर के संदर्भों में देखे तो ऐसा होना अब उतना आसान नहीं है। भले ही 'बास्क समुदाय' के लोगों ने अपनी समस्या का समाधान खोज लिया हो लेकिन हर देश, हर प्रदेश की समस्या की प्रवृति और जटिलताएं अलग होती हैं। अत: स्वाभाविक है समाधान की प्रक्रिया और प्रयास भी अलग ही होंगे। अमिता कहती है "हमारे यहाँ हल निकालना इतना आसान नहीं है...कश्मीर अकेले में ही हम तीन तरह के कश्मीरी हैं। कश्मीरी हिंदू, कश्मीरी सुन्नी और कश्मीरी शिया, सूफी और खानाबदोशों की बात अलग से करें... फिर लेह बौद्धबहुल और जम्मू हिन्दूबहुल है। यहाँ धार्मिक पहचान ज़्यादा बड़ा मसला है। हल बेहद मुश्किल।"[45] 'बास्क संघर्ष' के अंतर्गत केवल एक समुदाय था लेकिन कश्मीर के संदर्भ में स्थितियाँ अलग है। यहाँ धार्मिक पहचान भी बड़ा मसला है। कश्मीर-समस्या के समाधान के दौरान वहाँ की धार्मिक विविधता को भी ध्यान में रखना होगा। किसी भी देश या प्रदेश की समस्या के केंद्र में यदि जाति, नस्ल, धर्म, सांप्रदायिकता हो तो

उस समस्या को सुलझाना आसान नहीं होता।

कश्मीर-समस्या के सुलझने की जगह उलझते जाने का कारण यह भी है कि समय बीतने के साथ इसमें कई और समस्याएं जुड़ती गई हैं। किसी एक क्रिया के कारण में उपजी प्रतिक्रिया में कश्मीर में सही-गलत जैसा कुछ भी नहीं बचा है। इसके फलस्वरूप हर किसी के पास अपना सच है, अपना दृष्टिकोण है और अपने किए को जायज़ ठहराने का तर्क है अथवा उनके कारण हैं। जैसा कि 'शिगाफ़' उपन्यास में कहा गया है, "यह सबसे बड़ा सच है कि असली सच तो कश्मीर में पहले बम धमाके में मारा गया। यहाँ एक सच तुम्हारे लिए है तो दूसरा हिंदुस्तानी जर्नलिस्ट के लिए, तीसरा कश्मीर जर्नलिस्ट के लिए और चौथा आर्मी के लिए, पाँचवां मिलिटेंट के लिए, छठा विदेशी मीडिया और सातवाँ मानवाधिकार आयोग के लिए...। सबके अपने गढ़े हुए सच हैं। जुलूस में मुखौटा ओढ़े चलती है आइडियोलॉजी।"[46] इतने सारे सत्य के बीच कश्मीर का अपना पक्ष खो गया है। उपन्यासकार की दृष्टि में यह बहुत बड़ा कारण है इस समस्या के अनसुलझे रह जाने का।

क्षमा कौल के उपन्यास 'दर्दपुर' में यह बताया गया है कि जब तक आतंकवाद ख़त्म नहीं होगा तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। आतंकवाद को ख़त्म करना इतना आसान नहीं है, क्योंकि कश्मीर में हिंसा फ़ैलानेवाले बाहरी नहीं है बल्कि भीतरी है। आमजन से घुले-मिले हैं। बनजी अपनी माँ से कहता है, "बाहर का आतंकवादी सिर्फ पहल करने के लिए आया था, बाकी काम तो भीतर के आतंकवादी ने ही किया है"[47]

मधु कांकरिया के उपन्यास 'सूखते चिनार' में भी कश्मीर-समस्या के समाधान को आतंकवाद के अंत से जोड़ा गया है और आतंकवाद का कारण बेरोजगारी एवं भूख को माना गया है। जैसा कि इस उपन्यास का पात्र सन्दीप अपने पिता से कहता है, "पापा, मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि पृथ्वी से आप भूख मिटा दीजिए, सबको उनके हिस्से का प्रतिफलन दे दीजिए, तो न कश्मीर

में आतंकवाद पनपेगा और न झारखंड, उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश में माओवाद।"[48] यदि कश्मीर के संदर्भ में देखा जाए तो वहाँ केवल बेरोजगारी या पैसों की कमी ही आतंकवाद के पनपने का कारण नहीं है, बल्कि उसे बढ़ाने में धार्मिक और राजनैतिक कारण भी ज़िम्मेदार हैं।

पद्मा सचदेव के 'नौशीन' में भी इस समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है बल्कि इसे इसके भाग्य के भरोसे छोड़ दिया गया है। उपन्यास का पात्र इकबाल कहता है, "इसमें से हम कब निकलेंगे, ये कोई नहीं जानता। जब अल्लाह को रहम आयेगा तभी काश्मीर बेहतर बन पायेगा।"[49] चन्द्रकान्ता के उपन्यास 'ऐलान गली ज़िन्दा है', 'यहाँ वितस्ता बहती है' में जहाँ कश्मीरी जीवन ही मुख्यत: केंद्र में हैं वहीं मीरा कांत के उपन्यास 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' में भी समस्या और उसके कारणों पर ही बात की गई है और कोई ऐसा समाधान नहीं दिया गया है जिसपर अब तक चर्चा न हुई हो।

'नरमेध' उपन्यास में कश्मीर-समस्या के कारणों और कश्मीर संबंधित निर्णयों पर विस्तृत चर्चा हुई है। उपन्यास में इस बात पर बल दिया गया है कि कश्मीर को लेकर लिए गए निर्णयों ने ही इस समस्या को इतना जटिल बना दिया है। किसी भी समस्या को जितनी जल्दी सुलझा लिया जाए उतना ही अच्छा होता है, क्योंकि वक्त बीतने के साथ वह समस्या और अधिक जटिल होती जाती है एवं उसका समाधान खोजना मुश्किल हो जाता है। कश्मीर के संबंध में भी हुआ है। इस उपन्यास की पात्र शंपा कश्मीर-समस्या का कारण जनमतसंग्रह का आश्वासन मानती है। वह कहती है, "राष्ट्रसंघ में भारत-पाक सैनिकों के पूर्णत: हट जाने पर प्रजातांत्रिक प्रणाली से चुनाव की घोषणा...कश्मीरी चाहते हैं- ये लोग हटें, तो हम आत्म-निर्णय करें; भारतीय सेनाएँ हटें तो पाकिस्तान पूरी वादी को हड़प ले, और पाकिस्तान तो मज़हब के नाम पर कश्मीर को पाकिस्तान का एक अंग ही समझने की भूल कर रहा है। ऐसे में...कश्मीर घाटी का आत्म-निर्णय का प्रश्न अधर में लटक कर रह गया है।"[50] इस उपन्यास में कश्मीर-समस्या का समाधान न हो पाने की बड़ी वजह धारा 370 को भी माना गया है। इस उपन्यास के पात्र नरेन्द्र के चाचाजी का मानना है

कि इस धारा ने कश्मीर को भारत से हमेशा के लिए अलग कर दिया है। उनके अनुसार कश्मीर-समस्या का समाधान धारा 370 के हटने के बाद ही हो सकता है लेकिन वह महसूस करते हैं कि इसे हटाया जाना आसान नहीं है। वह कहते हैं, "नहीं, अब यह धारा हटा सकना इतना आसान नहीं हैं, जबकि उस समय विलय का प्रस्ताव भी स्वीकार कर लेना साधारण सी बात थी।"[51]

उल्लेखनीय है कि इस उपन्यास में जम्मू-कश्मीर को ख़ास दर्जा देनेवाली धारा 370 को हटाने की उम्मीद जताई गई है, वह 5 सितम्बर 2019 को हटाई जा चुकी है। इसे हटाए जाने पर जिस विरोध की आशंका 'नरमेध' उपन्यास में व्यक्त की गई थी वह सच साबित हुई। इस धारा के हटने को लेकर बहुत विरोध हुआ और 2019 में इस धारा हटने के साथ ही कश्मीर में लम्बे समय तक कर्फ्यू की स्थिति बनी रही थी। अब परिस्थितियाँ कुछ हद तक सामान्य हुई हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि कश्मीर-समस्या का समाधान हो गया है, ऐसा नहीं है कि सरकार द्वारा इस समस्या के समाधान के प्रयास नहीं हुआ हैं बल्कि जैसा कि उर्मिलेश लिखते हैं, "इस हिमालयी सूबे को लेकर लड़ते-झगड़ते दोनों देश बीच-बीच में शांति-वार्ताओं का दौर शुरू करते हैं, तो लगता है इस बार जरूर बदलेगा। पर आजादी और विभाजन के सत्तर साल बाद भी कश्मीर मसले की जटिलता बरकरार है।"[52] कश्मीर-समस्या कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है बल्कि आतंक, आक्रोश, हिंसा, सांप्रदायिकता, कई लोगों की गलतियों, महत्त्वाकांक्षाओं, राजनैतिक स्वार्थ, वर्चस्व की कामना और कश्मीरियों की मूल समस्या की उपेक्षा करने का परिणाम है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब इस सोच में बदलाव हो। जब चिंता के केंद्र में भू-भाग न होकर वहाँ के निवासी हों। जिसमें हर धर्म के लोग शामिल हो। बलराज पूरी कश्मीर-समस्या के समाधान पर लिखते हैं, "For it is a unique state in terms of the religious and ethnic diversities that it encompasses. No solution will be lasting unless it is supported by a consensus of all diverse communities, which is possible only on the basis of the values mentioned above and on an agreement on the

constitutional and institutional arrangements to reconcile the diverse urges and interests and to ensure that all the communities get equitable share in political power and financial allocations."[53]

कश्मीर की जो स्थिति है उसे ध्यान में रखते हुए उसकी समस्या का समाधान लोकतांत्रिक ढाँचे के तहत ही हो सकता है। जिसकी प्रक्रिया लंबी अवश्य हो सकती है, लेकिन इस समस्या का समाधान शांतिपूर्ण तरीके से तभी हो सकता है जब सभी की इच्छा, सम्मान और गरिमा को ध्यान में रखते हुए कोई निर्णय लिया जाए। लोकतंत्र के ढांचे में विरोध और असहमति का होना स्वाभाविक है, लेकिन विरोध और असहमति अहिंसा के मार्ग पर ही होनी चाहिए हिंसा के तर्ज पर नहीं। इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि हिंसा और भय से समस्या पर आवाज़ उठानेवालों को ख़त्म किया जा सकता है, समस्या को नहीं। अत: एक ऐसा मार्ग खोजने की आवश्यकता है जहाँ कश्मीर से जुड़े सभी पक्षों का सम्मान और उनकी स्वायत्तता कायम रहे। कश्मीर केन्द्रित उपन्यास इस बात पर बल देते हैं कि कश्मीरियों को ही अपना समाधान खोजना होगा, जिसका आधार निजी इच्छा या स्वार्थ न होकर एक पूरे कौम की सुरक्षा हो, आनेवालों पीढ़ियों का भविष्य हो। जिसके लिए आवश्यक है कि आपसी संवाद कायम हो, रोजगार और शिक्षा पर उचित ध्यान दिया जाए, कश्मीर और शेष भारत के बीच परायेपन की जगह अपनेपन का बोध हो। कश्मीर में ऐसा माहौल बनाने की ज़िम्मेदारी जितनी भारत सरकार की है उतनी ही कश्मीरियों की भी है। अत: इस समस्या का समाधान कश्मीरियों को भी खोजना होगा। चूँकि वे इस पीड़ा के भुक्तभोगी हैं अत: इस पीड़ा से मुक्ति का मार्ग भी उन्हें ही तलाशना होगा और यह मार्ग हिंसा का न होकर शान्ति का होना चाहिए, बंदूक का न होकर संवाद का होना चाहिए।

संदर्भ:

1. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 72

2. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 52

3. वही, पृष्ठ 47-48

4. सहगल, मनमोहन (1986), नरमेध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 27

5. वही, पृष्ठ 27

6. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 541

7. अग्रवाल, रोहिणी (2016), हिंदी उपन्यास समय से संवाद, आधार प्रकाशन, हरियाणा पृष्ठ 179

8. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 536

9. वही, पृष्ठ 540

10. वही, पृष्ठ 541

11. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 128

12. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 57

13. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 120

14. वही, पृष्ठ 46

15. वही, पृष्ठ 94

16. वही, पृष्ठ 58

17. वही, पृष्ठ 19

18. सहगल, मनमोहन (1986), नरमेध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 132

19. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 376

20. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 176

21. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 31

22. राय, जयश्री (2014), इक़बाल, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 55

23. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 84

24. वही, पृष्ठ 85

25. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ ix

26. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 163

27. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 582

28. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 225

29. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 539

30. सहगल, मनमोहन (1986), नरमेध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 3

31. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 21

32. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 117

33. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 57

34. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 7

35. पाण्डेय मैनेजर (2013), उपन्यास और लोकतंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 18

36. जोशी, ज्योतिष (2019), कथा विचार, विजया बुक्स, दिल्ली, पृष्ठ 85

37. राय, जयश्री (2014), इक़बाल, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 31

38. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ viii

39. वही, पृष्ठ 536

40. वही, पृष्ठ 495

41. वही, पृष्ठ 210

42. वही, पृष्ठ 465

43. वही, पृष्ठ 406

44. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 53

45. वही, पृष्ठ 38

46. वही, पृष्ठ 156

47. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 334

48. कांकरिया, मधु (2012), सूखते चिनार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 86

49. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 144

50. वहीं, पृष्ठ 16

51. वही, पृष्ठ 18

52. उर्मिलेश (2006), कश्मीर विरासत और सियासत, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्युटर्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 9

53. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 119